नब्बे घंटे काम का दबाव किसके लिए

लार्सन एंड टुब्रो यानी एलएंडटी कंपनी के चेयरमैन एसएन सुब्रह्मण्यन की कर्मचारियों से सप्ताह में 90 घंटे काम कराने की इच्छा को हम बर्न आउट सिंड्रोम के बढ़ते मामलों के आइने में भी देख सकते हैं। बर्नआउट सिंड्रोम, जिसे जॉब बर्नआउट के रूप में भी जाना जाता है, एक ऐसी स्थिति है, जो तब होती है जब कोई व्यक्ति कार्यस्थल पर दीर्घकालिक तनाव का अनुभव करता है। यह भावनात्मक, मानसिक और शारीरिक थकावट का कारण बनता है। पिछले साल सितंबर में पुणे में अर्न्स्ट एंड यंग में काम करने वाली 26 साल की युवती की काम के तनाव की वजह से मौत की ख़बर पर सोशल मीडिया में हंगामा मचा था, लेकिन वास्तव में इस बारे में अब कोई बात नहीं करना चाहता। यह एक लाइलाज बीमारी बनती जा रही है और कार्यस्थल पर इस बारे में बात करना तो ही ख़तरनाक बनता जा रहा है। इस युवती ने चार महीने पहले ही नौकरी ज्वाइन की थी और उसे कई बार 14 घंटे तक काम करना पड़ता था।

लोगों को काम करने की जगह पर आने-जाने में भी कई बार दो से तीन घंटे लग जाते हैं। अगर काम में ही उनके दिन के 16-17 घंटे जाएंगे तो वे बाक़ी के आठ घंटों में सोएंगे कब और दूसरे ज़रूरी कामों के लिए कहां से वक़्त निकालेंगे। ज़ाहिर सी बात है, ऐसे में तनाव बढ़ेगा और उनका जीवन एक ऐसे असंतुलन का शिकार बनता है, जिससे निजात पाना उनके लिए संभव नहीं होता। यही वजह है कि बर्न आउट अब महज इंग्लिश का एक शब्द होने की बजाय कार्यस्थलों की हक़ीक़त बनता जा रहा है।

यह अंतर्विरोध अब बिल्कुल सतह पर दिखने लगा है, जिसमें एक तरफ़ बड़ी कंपनियों के नामी लोगों की ख़्वाहिश है कि कर्मचारी इतवार की छुट्टी भी छोड़कर काम पर आएं और दूसरी तरफ़ कर्मचारी के लिए ज़िंदगी का अहम हिस्सा यानी उसका काम, उसकी नौकरी सबसे बड़ा जाल या जेल जैसी बनती जा रही है। करोड़ों लोग, जो आज इंसान या नागरिक की बजाय किसी कंपनी के कर्मचारी के रूप में ज्यादा पहचाने जाने लगे हैं, अच्छे से जानते हैं कि काम यानी नौकरी के बिना ज़िंदगी नहीं चलेगी। यही वजह है कि निजी स्तर पर लोग श्रम कानूनों और काम के दौरान दूसरी सहूलियतों की बात भी नहीं करते। वे यह जानते हैं कि प्रधानमंत्री के रोज 18 घंटे काम करने और उनके 12 घंटे काम करने में कितना फ़र्क़ है, लेकिन वे कहें किससे, उनकी सुनेगा कौन ? एक नौकरी छूटी तो दूसरी देगा कौन ?

आंकड़ों के आइने में:

– एवरीवन सोशल के मुताबिक, दुनिया भर के 75 फीसदी कर्मचारी बर्नआउट का अनुभव करते हैं, इनमें से 67 फीसदी का मानना है कि कोरोना महामारी के दौरान तो हालात और बदतर हो गए थे।
– मेडीबडी एंड सीआईआई के मुताबिक, 62 फीसदी भारतीय कर्मचारी बर्नआउट को महसूस करते हैं, जो दुनिया भर के इसके औसत से तीन गुना ज़्यादा है।
– डेलोइट के बर्नआउट से जुड़े एक सर्वे में 91 फीसदी उत्तरदाताओं ने कहा कि काम से मिलने वाला तनाव, उनके काम को नकारात्मक तरीके से प्रभावित करता है। 83 फीसदी लोगों ने कहा कि ये तनाव काम के साथ उनके निजी रिश्तों पर भी असर डालता है।
– मैक्केंसी हेल्थ इंस्टीटयूट के मुताबिक, भारत में 59 फीसदी काम करने वालों में बर्नआउट के लक्षण पाए गये, यह आंकड़ा सिर्फ़ जापान में इससे ज्यादा यानी 61 फीसदी है।

ये सारे आंकड़े 2020 के बाद की दुनिया के हैं। कोविड-काल के बाद जहां लाखों लोग नौकरी वापस नहीं पा सके, वहीं अपनी नौकरी बचाए रख पाने वाले लोगों पर काम का दबाव बढ़ना शुरू हुआ। इसी का दूसरा पहलू यह रहा है कि

अधिकारी और कर्मचारी सभी वर्ग के लोगों को घटे वेतन पर काम करना पड़ा, क्योंकि कहीं और नौकरी पाने के विकल्प सीमित हो गए थे। एक तरफ ज़्यादा काम और दूसरी ओर कम वेतन और कोविड के दौर में बचत के ख़त्म होने से हालात ख़राब होने शुरू हुए।

दुनिया भर में हुए शोध के नतीजे बताते हैं कि बर्नआउट होने की छह अहम वजहें हैं – बहुत ज्यादा कामकाजी दबाव, कामकाजी दुनिया में आज़ादी की कमी, काम का पर्याप्त सम्मान नहीं, कामकाजी मूल्यों में अंतर का होना, कामकाजी दुनिया में उपेक्षा का शिकार होना और सामाजिक मूल्यों का कम होना। दुनिया के कई देशों ने कामकाज और जीवन में संतुलन बिठाने के लिए सप्ताह में चार दिन काम करने का प्रावधान लागू किया है। ऑस्ट्रेलिया, नॉर्वे और न्यूज़ीलैंड जैसे देशों में हो रहे प्रयोगों से जाहिर हुआ है कि कामकाजी दिन कम करने से लोगों की उत्पादकता बढ़ गई है।

नौकरी के अलावा कोई भूमिका नहीं

दूसरी ओर हमारे यहां रविवार की एक छुट्टी पर कंपनियों के मुखिया लोगों की निगाह है। वे खुद ही तय कर रहे हैं कि कंपनी की नौकरी के अलावा आप जो कुछ भी करते हैं, वह अर्थहीन है। कंपनी को आगे बढ़ाने के नाम पर वे देश को आगे ले जाने की बात कर रहे हैं ताकि उनके स्वार्थ को छिपाया जा सके। सप्ताह में छह दिन काम करने के बाद एक कर्मचारी के पास रविवार के दिन के लिए कितने काम बचे रहते हैं, इसे लेकर किसी शोध की ज़रूरत नहीं है। नौकरी के लिए प्रवासी बन चुके लाखों लोगों का वैसे भी कोई सामाजिक जीवन नहीं बचा है कि इतवार को बाहर निकलकर वे उसमें अपनी कोई भूमिका निभा सकें। अब पूंजीपतियों की निगाह उनके निजी जीवन और संबंधों पर है। यह बात भी बार-बार दर्ज होनी चाहिए कि सुब्रह्मण्यन की सोच महिला-विरोधी भी है, क्योंकि घर संभालने वाली या कामकाजी महिलाओं का अस्तित्व महज इतना भर नहीं है कि छुट्टी के दिन उन्हें निहारा जाए।

हर क्षेत्र में एक सा हाल

मैनेजर और अफ़सर स्तर पर जहां काम का दबाव ज़्यादा चर्चा में रहता है, वहां उन्हें कुछ सहूलियतें भी मिलती हैं लेकिन असंगठित क्षेत्र में तो केवल कागजी बातें हैं। देश में ज़्यादातर निजी कार्यालयों, कंपनियों में कर्मचारी दिन में आठ घंटे से ज़्यादा काम करते हैं, नौ या साढ़े नौ घंटे काम कराना कंपनियों की आदत बन चुकी है। जैसे ही आठ घंटे पूरे होने वाले होते हैं और छुट्टी का टाइम करीब आ रहा होता है, उन्हें ऐसा काम सौंप दिया जाता है, जो अर्जेंट होता है और एक-दो घंटे से कम में पूरा नहीं हो सकता। इस बढ़े हुए काम का अक्सर ओवरटाइम भी नहीं दिया जाता। मीडिया से लेकर इंजीनियरिंग, मेडिकल से लेकर एजुकेशन तक लगभग हर सेक्टर में बर्न आउट के मामले बढ़ रहे हैं, क्योंकि ज़्यादातर क्षेत्रों में नई नौकरियां नहीं पैदा हो रहीं। कंपनियों को कोविड-काल के बाद नौकरी में बचे रह गए लोगों से ही काम भी निकलवाना है और पहले जितना मुनाफ़ा भी कमाना है। ऐसे में एक ही उपाय बचता है – उपलब्ध कर्मचारियों से ज़्यादा काम लेना।

विकास का कुछ हिस्सा तो मिले

भारत में जहां आबादी के हिसाब से महज एक फीसदी लोगों के लिए सरकारी नौकरियां उपलब्ध हैं, वहां रोज़गार लायक बाक़ी आबादी के लिए प्राइवेट नौकरी ढूंढना और उसमें समझौते करते हुए ज़िंदगी खपा देना एक मात्र विकल्प है। नौकरी करोड़ों लोगों के लिए बहुत बड़ा संबल है और इसके लिए अपना सर्वश्रेष्ठ देने में वे कोई कोताही नहीं बरतते। दूसरी ओर कंपनियों का हाल ये है कि अपने कर्मचारी को उचित वेतन और बुनियादी सुविधाएं देने में वे कंजूसी करती हैं। असंगठित क्षेत्र को तो छोड़ ही दीजिए, संगठित क्षेत्र की तमाम नौकरियों में आज की तारीख में न प्राविडेंट फंड की सुविधा दी जा रही और न कर्मचारी और उसके परिवार को हेल्थ इंश्योरेंस मिल रहा है। कंपनियां, टीए और डीए देने के नाम पर खानापूर्ति करती हैं और कर्मचारियों की छुट्टियां काटने के नए-नए तरीक़े ढूंढती हैं।

कर्मचारी अपने नियोक्ता की तमाम अघोषित शर्तों को सिर्फ़ इसलिए मानने के लिए राजी हो जाते हैं, क्योंकि श्रम न्यायालय से लेकर सरकार तक उनकी कहीं कोई सुनवाई नहीं है। अगर वे बिना ओवरटाइम के ज़्यादा घंटे काम करने को राजी नहीं होंगे और नौकरी छोड़कर जाने का ख़तरा उठाएंगे तो उनकी जगह कम वेतन और ज़्यादा घंटे काम करने वाले

बेरोज़गारों की फ़ौज बाहर तैयार खड़ी है। देश को विकसित राष्ट्र बनाने के नाम पर और कंपनी को आगे ले जाने के नाम पर कर्मचारियों को ज़्यादा से ज़्यादा काम करने, मेहनत करने के उपदेश दिए जा रहे हैं लेकिन कर्मचारी यह भी तो चाहेंगे कि कंपनी के मुनाफ़ा कमाने, देश के तीसरी अर्थव्यवस्था बनने में उनका भी तो कुछ हिस्सा हो। लेकिन कर्मचारियों की अपेक्षाओं से किसी को मतलब नहीं है।

– **दीपक भारती** (लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं)

(कवर चित्र: 'नवउदारवादी दुनिया के खिड़की और जंगले', लबनी जंगी)